

अध्याय-एक

यथार्थ के प्रकार और साहित्य

## अध्याय-एक

### यथार्थ के प्रकार और साहित्य

#### 1.1 यथार्थ : अवधारणा

यथार्थवाद अंग्रेज़ी के 'रियलिज़म' शब्द का पर्यायवाची शब्द है। 'रियलिज़म' शब्द ग्रीक भाषा के 'Res' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है 'वस्तु', 'वस्तु संबन्धी' या 'वास्तविक' इसलिए 'रियलिज़म' शब्द का अर्थ हुआ - 'यथार्थवाद'। ठीक उसी प्रकार 'यथार्थ' शब्द भी अंग्रेज़ी के 'रियलिटी' शब्द के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यथार्थ में जीवन की सच्चाइयाँ होनी चाहिए, उच्चतर चिन्तन चाहिए तथा मंगलमयी जीवन की प्रेरणा भी होनी चाहिए। इस यथार्थ को चित्रित करनेवाली साहित्यिक शैली को यथार्थवाद कहा जाता है। यथार्थवाद का मूलसिद्धान्त है 'किसी भी वस्तु को उसके मूल अर्थात् यथार्थ रूप में संप्रेषित करना' या 'जीवन को उसके यथावत् रूप में चित्रित करना।'

यथार्थवाद मूल रूप से दर्शन के क्षेत्र में आया हुआ शब्द है किन्तु इसकी प्रतिष्ठा का संपूर्ण श्रेय आधुनिककाल को ही देना होगा। यथार्थवाद के उद्भव तथा प्रचलन के संबन्ध में डॉ. शिवकुमार मिश्र का मत है कि "यथार्थवाद के उद्भव तथा प्रचलन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही एक सशक्त साहित्यिक आन्दोलन के रूप में हुआ। यथार्थवादी आन्दोलन के इस उद्भव ने परंपरागत साहित्य तथा कलाओं का अनुशासन करनेवाले भाववादी और आदर्शवादी चिन्तन को आघात पहुँचाया। एक प्रकार से स्वच्छन्दतावादी एवं आदर्शवादी चिन्तन को भी भूतकाल से रख दिया।"<sup>1</sup> इस संदर्भ में अंग्रेज़ी के डेमिन ग्रांट की मान्यता है कि "यथार्थवाद का उद्भव 19वीं शताब्दी में पाया जाता है और उसका विकास भी इसी शताब्दी में आधुनिकता में बरकरार रखा है।"<sup>2</sup> आशय यह है कि यथार्थवाद उन्नीसवीं शताब्दी की देन है।

#### 1.2 यथार्थ का अर्थ

'यथार्थ' का अर्थ होता है 'सत्य', वास्तविक वस्तुस्थिति। यथार्थ शब्द की संधि करने पर 'यथा' + 'अर्थ' मिलेंगे। यथा का अर्थ है 'जिसका' इसलिए जिसका जो अर्थ है, जो स्थिति है, जो

रूप है, जो दशा है, जो सत्य है, वही यथार्थ है। तथ्यों का ज्ञान इन्द्रिय जन्य अनुभव है। यही अनुभव या अनुभूति ही यथार्थ है।

यथार्थ के लिए कोशग्रन्थों में विभिन्न अर्थ दिये गये हैं। लेकिन भावधारा एक ही है। 'दि रीडर्स डाइजेस्ट ग्रेट इनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी' में यथार्थ को ये अर्थ दिये गए हैं कि "यथार्थ संज्ञा, वास्तविकता, मूल्य से सादृश्य, वास्तविक अस्तित्व जो सत्य है, बाह्य प्रतीतियों में अन्तर्निहित तत्व, विद्यमान वस्तु, यथार्थ की वास्तविक प्रकृति है।"<sup>3</sup>

काले कैपलैर द्वारा संपादित 'संस्कृत-अंग्रेज़ी डिक्शनरी' के अनुसार "यथार्थ तथ्य का विवरण सत्य, सुनिश्चित, यथोचित, उपयुक्त और विशुद्धसत्य का अनुकल्प भी है।"<sup>4</sup> कामिलबुल्के के 'अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश' के अनुसार "यथार्थ : वास्तविकता, असलियत, यथार्थता, सच्चाई, यथार्थवादिता, यथार्थसत्ता, यथार्थतत्व है।"<sup>5</sup>

मानक हिन्दी कोश में यथार्थ को जो अर्थ दिया है वह भी उल्लिखित अर्थों से संबन्धित है।

### 1.3 यथार्थ - यथार्थवाद : स्वरूप

कई पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने यथार्थ और यथार्थवाद के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कई परिभाषाएँ दी हैं-

डॉ. बैजनाथ सिंहल ने 'यथार्थ' को यों परिभाषित किया है - "यथार्थ एक ऐसा भौतिक या व्यावहारिक अनुभव है जो कल्पना, अनुमान अथवा सिद्धान्त से अलग है।"<sup>6</sup> आगे उन्होंने 'यथार्थ' के स्वरूप को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है - "साहित्य में चित्रित वे सभी तथ्य जिसके साथ साहित्यकार की अपनी अनुभूति जुड़ी हुई हो वे यथार्थ कहलाते हैं। कोई घटना, गुण अथवा सम्बन्ध जिसकी वास्तविकता अनुभव में प्रकट हो या जिसका निश्चयात्मक रूप से अनुमान किया जा सके, विशेषकर देशकाल के परिप्रेक्ष्य में घटी वास्तविक घटना (प्रत्यक्ष अनुभव) के वस्तुगत रूप में अर्थ की दृष्टि से तथ्य (यथार्थ) सत्य से भिन्न होता है।"<sup>7</sup>

डॉ. सीताराम जायसवाल के अनुसार - "यथार्थ केवल जीवन की आर्थिक सफलता पर बल देता है।"<sup>8</sup> यह परिभाषा 'यथार्थ' की सीमा को बिलकुल संकुचित कर देती है। डॉ. रामकुमार खण्डेलवाल और डॉ. चन्द्रभानु रावत ने 'यथार्थ' को यों शब्द बद्ध किया है कि "यथार्थ जीवन का

वास्तव प्राप्तव्य है।”<sup>9</sup> विजय मोहन सिंह की राय में “वस्तु का यथार्थ और क्या होता है? सिवा उस यथार्थ के जिसे वह देखता और महसूस करता है और महसूस करने की इस प्रक्रिया में उसे शकल देता है, वह शकल जो यथार्थ की भी है और उसकी अपनी भी। उसका यथार्थ उन दोनों से मिलकर बनता है।”<sup>10</sup> आदर्श हिन्दी शब्दकोश के अनुसार “सत्य ठीक जैसा होना चाहिए वैसा, जैसा का तैसा।”<sup>11</sup>

डेनियम ग्रांट ने यथार्थ के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट किया है कि “यथार्थ से अभिप्राय उस वस्तु से है, जिसे उपलब्ध किया जाता है और उपलब्धि एक निरन्तर प्रक्रिया है, जिसके कारण उसकी अवधारणा कभी स्थिर नहीं हो सकती है।”<sup>12</sup> डार्वर्ड फास्ट के अनुसार ‘यथार्थ रुचि की जगह रूढि, कविता की जगह कुकविता, रचनात्मकता के पूर्ण विकास की जगह कोई लीक नहीं है। यथार्थवाद प्यार, गर्म जोशी, संवेदनशीलता का दुश्मन नहीं, इन गुणों का अनुचर है।”<sup>13</sup> कहने का आशय यह है कि यथार्थ तो जीवन की वास्तविकता है जो समय के अनुसार बदल जाता है। उसे सही समय पर पहचानने की आवश्यकता है।

यथार्थवाद में वस्तु के यथार्थ स्वरूप का चित्रण या वास्तविक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति विद्यमान है। यथार्थवाद जीवन की सच्चाइयों का आईना है। यथार्थवादी साहित्य जीवन के स्पन्दनों का साहित्य है। इसमें अधिकतर जीवन की जटिलताओं, कटुताओं, विषमताओं और असंगतियों पर प्रकाश डाला जाता है। यथार्थवाद में कलाकार शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक, सुन्दर-असुन्दर, दुर्बलता, महत्ता, लघुता, कुरूपता, सुरूपता आदि को समान रूप से अपनाता है। यथार्थवादी साहित्यकार जीवन और समाज की यथार्थता के विभिन्न पहलुओं को उपस्थित करता है किन्तु उसमें कलाकार की सृजनशीलता और कल्पनाशक्ति का योगदान निहित है। इसलिए यह कहना उचित है कि जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति यथार्थवाद है। यथार्थवाद के लिए सामाजिक परिवेश नितान्त अनिवार्य माना गया है। यथार्थवाद के विषय में बाल्जाक का मानना है - “मनुष्य समाज की सन्तान है अर्थात् सामाजिक परिस्थिति के अनुसार ही मनुष्य स्वभाव अथवा मानवीमन बन जाता है। इसलिए मनुष्य के परिवेश का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।”<sup>14</sup> यथार्थवाद प्रायः यथार्थता में पनपता है। पृथ्वीलोक में जो दिखाई देता है (घटित होता है) वही यथार्थवाद है। यथार्थता असल में आवश्यकतानुसार किसी पूर्व निश्चित संबन्धों से जुड़ी हुई रहती है। डॉ. शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि - “यथार्थवाद में रचनाकार

व्यापक परिवेश के बीच से आवश्यक वस्तु का चुनाव करता है, जीवनानुभवों को तराशता है, और उन्हें कलात्मक रूप प्रदान करता है। अतः जो सृष्टि सामने आती है, बाह्य जगत अथवा वास्तविकता का प्रतिरूप होकर नहीं आती उसका ईमानदार किन्तु कुछ निखरा हुआ रूप होती है। यद्यपि उसकी जड़ें बाह्य जीवन में ही गहरे से गहरे रहती हैं, वहीं से उपयुक्त रूप ग्रहण करती हैं। लेकिन उसका रूप रचनाकार द्वारा रचाया जाता है। यह रूप यथार्थ की संगति में होता हुआ भी उसकी 'फोटो-ग्राफिक' अनुकृति नहीं होता, और न ही उस प्रतिबिम्ब के समान होता है जिसमें दर्पण ज्यों का त्यों प्रस्तुत करता है।<sup>15</sup> यथार्थवाद के प्रति आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं कि - "यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक-पृथक सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का संबन्ध प्रत्यक्ष वस्तु जगत है।"<sup>16</sup> आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है - "यथार्थवाद कला के क्षेत्र में ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है, जो निरन्तर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती है।"<sup>17</sup>

यथार्थवादी साहित्यकार के लिए जीवन का कोई भी क्षेत्र नगण्य, उपेक्षित अथवा अस्पृश्य नहीं रह गया है। वह जीवन को संपूर्णता में देखता है। साहित्यिक यथार्थवाद के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए डॉ. शिवनारायण श्रीवास्तव जी लिखते हैं कि "यथार्थवाद अपने सहज रूप में मानवजीवन, मनुष्य की शक्ति तथा दुर्बलता, महत्ता एवं लघुता, कुरूपता और सुरूपता आदि का सही चित्रण करता है। यथार्थवाद के शाब्दिक अर्थ के अंतर्गत ये सभी रचनाएँ आ जायेंगी जिनमें वास्तविक जीवन के उच्च से उच्च एवं निम्न से निम्न पक्षों का यथातथ्य चित्रण है। वास्तविक जीवन में बाह्य परिस्थितियों एवं क्रिया कलापों के साथ-साथ आन्तरिक भावनाओं, विचारों, आदर्शों, कल्पनाओं एवं स्वप्नों की भी सत्ता है और इन सभी के द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति होती है। अतएव व्यापक अर्थ में यथार्थवादी रचनाएँ मनुष्य की बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही सत्ताओं से सम्मिलित चित्रण को लक्ष्य बनाकर चलती हैं।"<sup>18</sup> डॉ. अवस्थी के अनुसार "यथार्थ वर्तमान होता है, लेखक के चारों ओर होता है, लेखक के रक्त में होता है, लेखक स्वयं उसे जीता है, और झेलता है।"<sup>19</sup> ये सारी परिभाषाएँ यथार्थ, यथार्थवाद और साहित्य को समझने में काफी हैं।

आर.एल. स्टीवेंसन ने यथार्थवाद के परिवर्तन को दृष्टि में रखते हुए लिखा है - "यथार्थवाद का प्रश्न साहित्य में मुख्यतः सत्य से अल्पांशतः भी संबन्ध नहीं रखता बल्कि उसका

संबन्ध केवल रचना की शैली मात्र से है।”<sup>20</sup> जोला के अनुसार - “मानव का सामान्य तत्वों का भली भाँति अध्ययन करने तथा उसकी प्रतिक्रिया को नोट करना, मेरे लिए प्रकृतिवाद एवं शरीर विज्ञान संबन्धी क्रियाओं का विशेष महत्व है। मैं एक वैज्ञानिक की तरह तथ्यों को रहस्योद्घाटन करते समय वस्तुस्थिति के अभिज्ञान से संतुष्ट हूँ”<sup>21</sup> रामचन्द्र वर्मा ने कहा है कि - “यथार्थवाद में आदर्शों का ध्यान छोड़कर उसी रूप में कोई चीज़ या बात लोगों के सामने रखी जाती है जिस रूप में वह नित्य या प्रायः सबके सामने आती रहती है। उसमें कर्ता न तो अपनी ओर से टिप्पणी करता है, न अपना दृष्टिकोण बतलाता है और निष्कर्ष निकालने का काम दर्शकों या पाठकों पर छोड़ देता है।”<sup>22</sup> डॉ. त्रिभुवनसिंह यथार्थवाद के संदर्भ में लिखते हैं - “जो साहित्यकार मानव जीवन एवं समाज का संपूर्ण वास्तविक चित्र काल्पनिक संसार से न लेकर वास्तविक संसार से लेता है, उसे ही हम यथार्थवादी साहित्यकार कह सकते हैं। यथार्थवादी कलाकार अपनी प्रतिभा के बल पर बाह्य पदार्थों का यथातथ्यचित्र उपस्थित करता है। अतः इसप्रकार के चित्र प्रस्तुत करते समय वह अपनी भावुकता तथा अनुभूतियों का सहारा लेता है उनको बाधक नहीं होने देता।”<sup>23</sup>

यथार्थवादी साहित्य जीवन की सच्चाइयों के चित्रण के साथ ही मानव को मानव से, उसकी परिस्थितियों से, उसके आसपास के माहौल से परिचित भी कराता है। वस्तुतः यथार्थवाद में लोकजीवन का चित्रण होता है अर्थात् सर्वसामान्यों के व सर्वहारा वर्ग की सब तरह की जीवन स्थितियों, विषमताओं, समस्याओं व शोषणों का चित्रण होता है। साथ ही पूँजीपति वर्ग के लोगों की संकुचित स्वार्थवृत्ति, शोषण प्रणालियों, विलास वृत्ति, बाह्य सदाचरण, आन्तरिक दुराचरण आदि पर प्रहार करने की प्रवृत्ति भी प्रबल होती हुई दिखाई देती है। यथार्थवादी साहित्यकार समानता, स्वतंत्रता, स्नेह आदि जीवनमूल्यों को प्रतिष्ठित कर मानव को नई जीवनदृष्टि देते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यथार्थवादी साहित्य में यथार्थ का प्रतिबिंब होता है जो कल्पना से दूर और सत्य का अन्वेषक, पक्षधर और प्रचारक होता है। वह उत्पीडित मानवता का पक्षधर है। वह ‘कला कला के लिए’ नहीं ‘कला जीवन के लिए’ मानता है। अनेक रूपात्मक जीवन के यथार्थ में सामंजस्य और एकता की स्थापना यथार्थवादी साहित्यकार का प्रमुख कर्तव्य है। यथार्थवादी साहित्य जो मानव को उसकी प्रत्येक समस्याओं के कारणों को खोजने को मजबूर कर देता है। जनता की चेतना को जागृत करता है, सामाजिक अडचन से सामाजिक मुक्ति का मार्ग दिखाता है तथा समस्त मानव जाति को एकसूत्र में बाँधने का प्रयास करता है।

## 1.4 यथार्थ के प्रकार और साहित्य

यथार्थवाद के स्वरूप का विवेचन करने के उपरान्त अब हमें यथार्थ व यथार्थवाद की विशेष प्रवृत्तियों जैसे समाजवादी यथार्थवाद, आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, प्रकृतवादी यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, ऐतिहासिक यथार्थवाद और सामाजिक यथार्थवाद का विश्लेषण करना है और साहित्य से उसका सम्बन्ध भी जानना है।

### 1.4.1 समाजवादी यथार्थवाद और साहित्य

20वीं सदी में दुनिया राजसत्ताओं और पूँजीवादी व्यवस्था के विद्रूप चेहरों से परिचित हो चुकी थी। जनतंत्र के रूप में आम जनता के लिए एक नयी जीवन पद्धति और राज्यपद्धति का उदय होता जा रहा था। वर्षों से गुलामी के चंगुल में फँसे हुए छोटे-बड़े राष्ट्र स्वतंत्रता का रास्ता नाप रहे थे। इस शताब्दी में गुलामी से मुक्त हुए राष्ट्र समाज रचना की आकांक्षा से समाजवादी भावना का काम यथार्थवादी दृष्टि से करने लगे। सोवियत लेखकों की 1934ई की पहली काँग्रेस में गोर्की ने समाजवादी यथार्थवाद का नाम लिया। समाजवादी यथार्थवाद व्यक्ति से अधिक समाज को महत्व देता है। विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को विस्फोटात्मक रूप में आग जलाकर अभिव्यक्त करना समाजवादी यथार्थवाद का प्रमुख उद्देश्य है।

बीसवीं शती में रुस में समाजवादी यथार्थवाद का उदय हुआ और इसी युग में उसका साहित्य में प्रचलन भी होने लगा। बाल्जाक, फ्लयवेयर आदि के यथार्थवादी विकासक्रम में मार्क्स, एंगल्स आदि के दर्शन व समाजवादी विचार भी उपलब्ध है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव ही दृष्टव्य है। मार्क्स का कहना है - “साहित्यकार की चेतना समाजसापेक्ष होती है।”<sup>24</sup> समाजवादी यथार्थ के संबन्ध में बेख्त कहते हैं - “समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर रची गई कला समाज के विकास के द्वन्द्वात्मक स्वरूप पर प्रकाश डालती है। इससे समाज को अपने भविष्य के निर्माण में सहायता मिलती है।”<sup>25</sup> समाजवादी यथार्थवाद क्रान्तीकारी विकास को तीव्रता के साथ चित्रित करता है।

आज का युग जटिलताओं एवं विघटन की स्थितियों से जूझ रहा है। युगानुरूप तथ्य और अतथ्य, विवेक एवं अविवेक सुनिश्चित, स्पष्ट एवं तर्कसम्मत शब्दों में निर्धारित करना समाजवादी लेखक का दायित्व है। समाजवादी यथार्थवाद के बारे में शिवकुमार मिश्रजी लिखते

हैं कि “समाजवादी यथार्थ का आग्रह है कि लेखक यथार्थ को उसकी संपूर्णता में उभारकर प्रस्तुत करें। विरोधी शक्तियों के बीच चलनेवाले संघर्षों को जितनी ही विशदता, सजीवता तथा तीव्रता के साथ यह चित्रित करेगा, उन संघर्षों को जितने ही आयामों में वह देखेगा, उसकी कला भी उतनी ही शक्तिसंपन्न होगी। उसका कार्य जड़ पदार्थों को नहीं, क्रान्तिकारी विकास की भूमिका में बदलते हुए यथार्थ को इस प्रकार मूर्त करता है कि वह शक्ति जो प्रगति की विधायिका शक्ति है, अपनी सारी क्षमताओं के साथ साफ और ठोस रूप में सामने आ सके।”<sup>26</sup> समाजवादी यथार्थ समष्टि व व्यष्टि के बीच सेतु है। वह दोनों के चेतनाशील जुड़ाव का प्रतिनिधि है।

समाजवादी यथार्थवाद समाज के वास्तविक अंगों को स्वीकारता है और अनुपयुक्त अंगों की उपेक्षा करता है। समाजवादी यथार्थ वास्तव में क्रान्ति का आह्वान देता है। वह संघर्ष पूर्ण क्रान्ति द्वारा प्रगति की ओर बढ़ना चाहता है। यथार्थवादी दृष्टिकोण को छोड़कर चलनेवाला साहित्य कभी प्रगतिशील नहीं हो सकता। अतः साहित्य द्वारा आन्दोलन चलाना समाजवादी यथार्थवाद का प्रधान लक्षण है। समाजवादी यथार्थवाद का मूल तत्व समाजवादी वास्तविकता का अंकन नहीं प्रत्युत यथार्थ-जीवन का समाजवादी दृष्टि से अंकन होना है। कुछ विद्वानों का मानना है कि समाजवादी यथार्थवाद राजनैतिक प्रचारवाद बनकर रह गया है। किन्तु यह एक आरोप मात्र है।

#### 1.4.2 आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और साहित्य

साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद विभिन्न आयाम में देख सकते हैं। यथार्थवाद पाठकों को निराशावादी बना देता है क्योंकि इसमें समाज के कुकर्म, हत्या, चोरी, दमन, शोषण व अत्याचार से भरे हुए साहित्य की बाढ़ आ गयी है। मनुष्य, समाज और ज़िन्दगी के कुत्सित और घिनौने पक्षों को प्रस्तुत करनेवाली कला का नाम ही यथार्थवाद है। जिसके अंतर्गत आदर्श के लिए कोई स्थान नहीं है।

साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद का समन्वय का प्रणेता प्रेमचन्द है। प्रेमचन्द जी के अनुसार वही उपन्यास उच्चकोटी का समझा जाता है जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। आदर्शवाद आशावादी है तो यथार्थवाद निराशावादी है। यदि यथार्थ के साथ आदर्श का समन्वय है तो अवश्य उसमें कुछ मूल्य भी बढ जाता है। डॉ. त्रिभुवन सिंह के अनुसार - “साहित्य में आदर्श जब तक यथार्थ के साथ सहायक रूप में आता है अथवा आदर्श के साथ यथार्थ का



सामंजस्य हो जाता है तो उसका मानव जीवन में कुछ मूल्य ठहरता है, अन्यथा वह लेखक और पाठक के मानसिक व्यायाम से अधिक अपना कुछ अर्थ नहीं रखता।<sup>27</sup> सच्चा साहित्यकार अपने युग और समय की नब्ज को पहचानता है और ज़िन्दगी के मुख्य प्रवाह में शामिल होता है। मानवता का उत्थान एवं प्रगतिशील समाज एवं राष्ट्र के निर्माण के लिए उनका साहित्य सफल काम करता है। मानव समाज का चित्रण आदर्श के धरातल पर करता है तो वह आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के नाम पर आता है।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद निराश मन को उत्साहित बनाने का कदम उठाता है। डॉ. त्रिभुवन सिंह का मानना है - “वास्तव में ‘आदर्शोन्मुख यथार्थवाद’ मानव की दयनीय एवं कुरूपताओं से भरी हुई विषम परिस्थितियों की वास्तविक कठोरता में चमक जानेवाला वह काल्पनिक आलोक है जिसके द्वारा जीवन से निराशा, परिस्थितियों के भार से घबराये हुए तथा रास्ते में हताश मानव के अन्दर आशा और विश्वास का संचार हो जाता है। इसके द्वारा ही मानव समाज में अपने जीवन की अनेक असफलताओं के बीच निरन्तर संघर्ष रहने पर भी निराश नहीं होता और भविष्य में जीवन की सफलता की बराबर कामना करता रहता है।<sup>28</sup> स्वप्न देखना यथार्थ और आदर्श के बीच मनुष्य की कमज़ोरी नहीं है, मनुष्य का सबसे मूल्यवान अंश है। कोरा यथार्थ और कोरा आदर्श निरर्थक है, मानवीय नहीं। उनकी सार्थकता आपस में समन्वय ही है। आदर्श एवं यथार्थ का समन्वय ही सच्चे मानवीय मूल्यों को अग्रसर करनेलायक है। अतः हम कह सकते हैं कि आदर्शोन्मुख यथार्थवादी साहित्यकार ऐसे साहित्य का निर्माण करता है जो मानव मंगल की कामना से मंडित हो।

### 1.4.3 मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और साहित्य

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद प्रायः फ्रायड के सिद्धान्तों पर आधारित है। यह मनोविश्लेषण पर आधारित है। इसमें मुख्य रूप से मानव के अंतर्मन में पलनेवाले क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाता है, जिससे मनुष्य की असलियत समझ सकते हैं। फ्रायड के अनुसार मानव मन में चेतन, अवचेतन और अर्द्धचेतन जैसी तीन स्थितियाँ हैं। इन तीनों का महत्व मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद में परिलक्षित होता है। फ्रायड के मनोविज्ञान में सेक्स की प्रमुखता है। मानव मन, व्यक्तित्व तथा संस्कृति के विकास में सेक्स का बहुत बड़ा हाथ है। इस संदर्भ में डॉ. त्रिभुवनसिंह लिखते हैं - “मनुष्य में जन्मजात जो नैसर्गिक पक्ष रहता है उसे फ्रायड ‘इद’ (Id) कहते हैं। यह

कामशक्ति का कोष (लिबिडो) है। 'इद' व्यक्ति के अस्तित्व की प्रेरकशक्ति या मूलप्रेरक भंडार है। ये प्रवृत्तियाँ विशेष इच्छाओं का रूप लेकर परिवेश की ओर उन्मुक्त होती हैं, और इस प्रकार चेतनमन को प्रभावित करती हैं। इद में किसी प्रकार का संगठन व व्यवस्था नहीं होती। यह यथार्थ से पूर्ण उदासीन होता है। 'इद' प्रबल उत्तेजना का अव्यवस्थित रूप है। इसके लिए शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक आदि मूल्यों का अस्तित्व नहीं है। व्यक्ति की जन्मजात स्वेच्छा की तृप्ति ही इसका मात्र काम है।<sup>29</sup> फ्रयड ने मन को अहम्, इदम् और आदर्श अहम् में विभाजित किया है। 'इदम्' मनुष्य का जन्मजात पक्ष है। चेतन मन को प्रभावित करना इसका कार्य है। 'अहं' मनुष्य में मैं या मेरे की भावना उत्पन्न करने का प्रयास करता है। 'आदर्श अहं' अन्तरात्मा का प्रतिरूप है। यह इदं और अहं पर नियंत्रण रखकर उचित-अनुचित की नैतिक मान्यताओं को निर्मित करता है, जिससे समाज की मर्यादा का निर्वाह होता है।

मनोविज्ञान व्यक्तिकेंद्रित होने के कारण व्यक्ति के भाव, विचार एवं व्यवहार पर अधिक ज़ोर देता है। मनोवैज्ञानिक साहित्यकारों ने मानव मन की अतिसूक्ष्म गहराइयों या अंतर्मन के सूक्ष्म कणों तक पहुँचकर अन्तर्मन की विकृतियों को साहित्य में रूपायित किया। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद केवल व्यक्ति के अंतर्मन का अभिव्यक्तीकरण करता है। मनुष्य की असलियत को पहचानने के लिए मनुष्य के अन्तर्मन की जानकारी अवश्य है। "आजकल के उपन्यासों का प्रमाणवाक्य यह है कि जीवन व्यवस्थित रूप से सजी हुई दीपमालिका नहीं है, वह तो ऐसा ज्योतिमंडल है जो हमारी चेतना को आद्यंत अपने झीने और अर्थ पारदर्शक आवरण से आच्छादित किये रहता है।"<sup>30</sup> मनोविज्ञान को आज के परिवर्तित समाज में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वैयक्तिक घुटन एवं संत्रास से युक्त युवापीढी के मनोविकारों को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद उत्कृष्ट काम करता है। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति आधुनिकतम युगचेतना की देन है और उसे साकार अभिव्यक्ति देने के लिए उपन्यास का नवीन रूप अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

मानवमन का सही दिशा में ज्ञान होना नामुमकिन है। वास्तव में अवचेतन मन दमित इच्छाओं एवं भावनाओं का भण्डार है। दमित इच्छाओं की पूर्ति समाज में उलझन पैदा करती है। चेतन एवं अवचेतन मन के क्रिया-व्यापारों का रास्ता खोजने का काम मनोवैज्ञानिक साहित्यकारों ने किया है। आज के झंझट भरे संसार में मनोविज्ञान पर ज़रा ध्यान देना ज़रूरी है।

#### 1.4.4 प्रकृतिवादी यथार्थवाद और साहित्य

प्रकृतिवाद उन्नीसवीं शताब्दी की देन है। 'प्रकृतिवाद' यथार्थवाद के बाद का आन्दोलन है। हिन्दी साहित्य में 'प्रकृतिवाद' अंग्रेजी के 'Naturalism' का पर्यायवाची शब्द है। प्रकृतिवाद का प्रचलनकर्ता फ्रेंच उपन्यासकार एमिल जोला है। जोला के अनुसार "प्रकृतिवाद उन परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार जन्मा था जो व्यक्ति की पूर्णता एवं सत्ता निश्चित करता है। उपन्यासकार का काम केवल वर्णन करना ही नहीं संसार की अव्यवस्था को ठीक करना भी है।"<sup>31</sup> मानव जीवन के विकृत अंश को साहित्य में स्थान देने का कार्य प्रकृतिवाद ने किया।

प्रकृतिवादियों के अनुसार प्रकृति ही परमसत्य है। प्रकृति ही सबके नियामक एवं आधार है। वह स्वअस्तित्ववान, स्वसंचालित और स्व-स्वप्न (self sufficient) है इसलिए प्रकृति को समझने के लिए किसी बाह्य सत्ता की आवश्यकता नहीं है। स्थूल रूप से कहा जाए तो प्रकृतिवादी रचनाएँ उन्हें कहा जाता है जो प्रकृति प्रेम का वर्णन करती है। सामान्यतः प्रकृतिवाद के अंतर्गत ये रचनाएँ आती हैं जो प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष रखने की चेष्टा करके यथार्थवाद का रूप प्रस्तुत करती हो। प्रकृतिवादी कलाकार मानव को प्रकृत रूप में अंकित करना चाहते हैं, मानववादी अथवा धार्मिकरूप में नहीं। अर्थात् जीवन को उसके वास्तविक रूप में व नग्न रूप में प्रकृतिवादी कलाकार प्रस्तुत करता है।

प्रकृतिवाद यथार्थवाद, आदर्शवाद, मानवतावाद एवं सूक्ष्मतावाद से विरोध करता है। प्रकृतिवाद में मानव जीवन को प्राकृतिक रूप में देखा जा सकता है। वास्तव में प्रकृतिवाद यथार्थवाद का विकृत रूप है। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम, क्रोध आदि मनोरोगों का गट्ठर मात्र समझता है और उसके अर्थहीन आचरणों, कामासक्त-चेष्टाओं, अहंकार से उत्पन्न धार्मिक कृत्यों का विशेषरूप से उल्लेख करता है। प्रकृतिवादी केवल बाह्य दिखावट ही पराकाष्ठा समझाकर मानव के अश्लीलपक्ष का चित्रण करने पर जोर देते हैं।

प्रकृतिवादी लेखक वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर दृष्टि रखकर प्रकृति एवं मानव का संबन्ध निर्धारित करने का परिश्रम करता है। प्रकृतिवादी कलाकारों की मान्यता इसप्रकार है कि "जिसप्रकार प्रकृति के विकास में किसी प्रक्रिया को हेय नहीं कहा जा सकता और वैज्ञानिक सूक्ष्मता से सबका निरीक्षण-परीक्षण करता है उसी प्रकार भौतिक स्तर पर मनुष्य जीवन का भी

निरीक्षण-परीक्षण करके उसका यथातथ्य चित्रण होना चाहिए। मूलतः मनुष्य पशुधर्मी है, अतः उसमें पशु-प्रवृत्तियाँ अपने आदिम या प्रकृत रूप में वर्तमान हैं। जब प्रकृति के अन्य जीवों में ये प्रवृत्तियाँ गोप्य नहीं हैं, तो मनुष्य में ही क्यों गोप्य रहें? अतएव मनुष्य का यथार्थ चित्रण तभी संभव होगा जब उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का तथा उनसे प्रेरित क्रियाकलापों का नितान्त तटस्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टि से नग्न वर्णन हो।”<sup>32</sup> प्रकृतिवादी यौनचित्रण एवं अनैतिक बातों का जधन्य चित्रण करना चाहते हैं। वे सौन्दर्य को परम सत्य मानता है और संस्कार में आबद्ध होकर नारी का अश्लीलतापूर्ण चित्र उभारकर लाने में न हिचकते हैं। वास्तव में प्रकृतिवादी लेखक ऐसा समझ रहा है कि वह युग सत्य का प्रतिपादन कर रहा है लेकिन वह युग सत्य नहीं बल्कि वासनाओं का जीवित प्रतिबिम्ब मात्र है।

#### 1.4.5 अतियथार्थवाद और साहित्य

अतियथार्थवाद ने प्रकृतिवाद की पराकाष्ठा पर जन्म लिया। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् निराशा एवं अतृप्ति से बचने के लिए 1990 में फ्राँस में जिस साहित्यधारा का उदय हुआ, वह है अतियथार्थवाद। इसके प्रमुख प्रवर्तक आंद्रे बेती थे। ‘अतियथार्थ’ ‘दादावाद’ ही का विकसित रूप है। यह आन्दोलन चित्रकला तथा मूर्तिकला के क्षेत्र में हुआ।

अतियथार्थवादी लेखक अपने अन्तर के स्वप्नजगत से प्रेरणा पाकर जीवन की असंगतियों, विद्रूपताओं व असंगत कल्पनाओं पर नज़र डालकर धूमिल, अस्पष्ट और अदृश्य मानसिक जगत को प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करता है। फ्यॉबेयर, जोल और मोपासाँ अतियथार्थवादी लेखक थे। इनमें जोला घोर प्रकृतिवादी लेखक हैं। उसने निर्भीकतापूर्वक स्वीकार किया है कि “प्रत्येक साहित्यकार का यह कर्तव्य है कि वह जीवन के विश्वसनीय यथातथ्य चित्रों को चित्रित करे, वे कितने भी बुरे एवं भ्रष्ट क्यों न हों। जब वह मनुष्य की कुरीतियों तथा रोगों का चित्र उपस्थित करे तो वह इतना तथ्यपूर्ण हो कि पाठकों को उसकी वास्तविकता में किसी प्रकार का संदेह न हो।”<sup>33</sup> अतियथार्थवादी बौद्धिकता के स्थान पर काल्पनिकता को मुख्यता देते हैं। जीवन की व्यर्थता एवं खोखलेपन के चित्रण में यह लेखक अधिक सजग हो जाता है। अतियथार्थवादी अनीश्वरवादी होता है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करनेवाले यह मान लेते हैं कि ईश्वर सृष्टि का नियन्ता है और सृष्टि पूर्ण व्यवस्थित ढंग से संचालित हो रही है किन्तु अतियथार्थवादी इसपर विश्वास नहीं रखता।

अतियथार्थवाद फ्रायड के सिद्धान्त पर आधारित है अतः इसके अंतर्गत यौन समस्याओं को भी महत्व दिया जाता है। ये लेखक भेदे से भेदे चित्र, श्लील, अश्लील एवं मनुष्य द्वारा उपेक्षित चित्र साहित्य में प्रस्तुत करते हैं। अतियथार्थवाद का भारतीय संस्कृति से संबन्ध नहीं है क्योंकि हमारे यहाँ मानव चरित्र की पवित्रता में यौन पवित्रता को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। भारतीय साहित्य में ऐसे अश्लील चित्रों का उल्लेख सच्ची अभिव्यक्ति नहीं है, जो मानव मन की वासनाओं को व्याकुल करे। हमारे यहाँ पाश्चात्य सभ्यता जैसा सोच व व्यवहार नहीं है इसलिए अतियथार्थवाद के नाम पर यदि साहित्य में अश्लीलता व नग्नता आती है तो वह निश्चित ही अवाँछनीय है।

संक्षेप में अतियथार्थवाद मूलतः अंतर्मन की विद्रूपताओं को साकार करने लायक है। वह मानवीय मन के गोपनीय स्थानों पर पहुँचकर मन की जिज्ञासा को शान्त करने का परिश्रम करता है किन्तु इसके ज़रिए मानसिक पशुत्व का उत्तेजन होता है, भ्रष्टाचार फैलने का परिवेश साफ मिलता है। यह व्यक्ति और समाज के लिए हानिकारक है।

#### 1.4.6 ऐतिहासिक यथार्थवाद और साहित्य

ऐतिहासिक यथार्थवाद का संबन्ध ऐतिहासिक घटनाओं से है। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि ऐतिहासिक यथार्थवादी युगचेतना संपन्न होने के कारण उनके पैर हमेशा वर्तमान में स्थिर हैं। वह अपने व्यक्तिगत जीवन में जो कुछ अनुभव करता है उसमें अपनी कल्पना शक्ति द्वारा इतिहास का रंग चढाकर इतिहास को वर्तमान के हित में चित्रित करता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद के संबन्ध में डॉ. त्रिभुवनसिंह जी की धारणा इस प्रकार है - “ऐतिहासिक यथार्थवाद के अन्दर बीते हुए कल की सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों का वास्तविक चित्र उपस्थित किया जाता है। परन्तु इतिहास और ऐतिहासिक यथार्थवाद एक-दूसरे के लिए प्रयुक्त किये गये शब्द नहीं है, बल्कि दोनों में अन्तर है। इतिहास तिथियों, घटनाओं तथा परिणामों का ठीक-ठीक वर्णन उपस्थित करता है, परन्तु ऐतिहासिक यथार्थवाद के अंतर्गत तिथियों तथा घटनाओं की सहायता पर इतना अधिक ज़ोर नहीं दिया जाता। उससे अधिक उस समय की सामाजिक एवं राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों को उभारकर रखने के प्रति आग्रह दिखलाया जाता है। इसका एकमात्र कारण है कि ऐतिहासिक यथार्थवाद की धारणा साभिप्राय होती है। इसके द्वारा साहित्यकार को ऐसे चरित्रों का निर्माण करना पडता है कि जो वर्तमान समाज को प्रेरणा प्रदान कर सके तथा उस समय की परिस्थितियों को इसप्रकार उभारकर सजीव रूप में रखना चाहता है कि जिस परिणाम के आधार

पर हम वर्तमान समाज को उसके दोषों तथा दुर्बलताओं से बचा सकें।”<sup>34</sup> अर्थात् ऐतिहासिक यथार्थवाद इतिहास की अपेक्षा चेतना संपन्न है।

#### 1.4.7 सामाजिक यथार्थवाद और साहित्य

सामाजिक यथार्थवाद उस चित्रण को कहते हैं जिसमें समाज का यथार्थ अपनी भलाई व बुराई अवस्था के साथ समाहित हो जाता है, या वह व्यक्ति और समाज के अनेक विध संघर्षों से निर्मित होता है। सामाजिक यथार्थवादी साहित्यकार अपने समय की परिस्थितियों के आधार पर आर्थिक, राजनीतिक, पारिवारिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक और राष्ट्रीय अवस्थाओं का मूल्यांकन करते हुए व्यक्ति और समाज के संबन्ध निश्चित करता है।

सामाजिक यथार्थवाद के संबन्ध में डॉ. त्रिभुवन सिंह जी लिखते हैं - “समाज की वास्तविक अवस्था में किसी भी वस्तु का तहत चित्र उतार देना श्रेष्ठ साहित्य के लिए हानीकारक होता है। साहित्यिक चित्र क्यैमरे द्वारा लिया गया चित्र नहीं होता बल्कि वह साहित्यकार की लेखनी द्वारा चित्रित किया गया ऐसा चित्र होता है कि जिसमें साहित्यकार के अनुभव एवं कल्पना के सुन्दर रंग ढले होते हैं। संक्षिप्त रूप में हम कह सकते हैं कि सामाजिक विषमताओं, भ्रष्टाचारों तथा वैयक्तिक स्वार्थ से आक्रान्त, पीडित समाज की दयनीय परिस्थितियों को उसके वास्तविक रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करना सामाजिक यथार्थवाद का प्रधान लक्ष्य है।”<sup>35</sup> कहने का आशय यह है कि समाज एक सिक्के के दो पहलू के समान है। जो भलाई एवं बुराई के चक्रव्यूह में है। भलाई का उजियाला प्रकाश एवं अन्धकारयुक्त बुराई को एकसाथ सच्चे रूप में प्रदर्शित करने में सामाजिक यथार्थवादी साहित्यकार सक्षम है। सामाजिक चित्रण में साहित्यकार को केवल समाज की गन्दगी, भ्रष्टाचार, शोषण, अराजकता स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, क्षुद्रता, कामुकता, विपन्नता, दुर्दम्य पाशविक प्रवृत्तियाँ, सामाजिक और आर्थिक वैषम्य, अन्धसंस्कार, कुरीतियाँ आदि का ही वर्णन नहीं करना चाहिए बल्कि स्नेह, सहानुभूति, करुणा, परोपकार, स्वार्थ त्याग आदि सद्गुणों का उल्लेख भी करना चाहिए।

सामाजिक यथार्थवाद पर मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। डॉ. नीहारगीते सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में लिखती हैं - “केवल सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करनेवाले कभी-कभी मार्क्सवादी विचारधारा के शिकंजे में न बहें तो उन्हें सच्चा

यथार्थवादी नहीं माना जाता। वास्तव में किसी वाद मात्र से बन्दे रहने से कोई भी सही विश्लेषण नहीं कर सकता है। ...वास्तव में लेखक को वर्गसंघर्ष में सक्रिय भाग लेना चाहिए। शोषित मनःस्थिति को आत्मसात करना चाहिए। मतवाद श्रेष्ठकार नहीं हो सकता। वास्तव में यथार्थवाद है उसे समाजवाद में बन्द करना अनुचित है।<sup>36</sup> सामाजिक यथार्थवाद के अंतर्गत सर्वहारा वर्ग की गरीबी, शोषण, असंतोष तथा वर्गभेद को मिटाने के प्रयत्नों का वर्णन है तो पूँजीपति वर्ग के स्वार्थ, शोषण प्रणालियाँ, विलासवृत्ति, बाह्यसदाचरण एवं आन्तरिक दुराचरण पर निर्मम प्रहार भी है।

साहित्य समाज का दर्पण है इसलिए सामाजिक यथार्थ की बहुस्तरीय अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से ही पूर्ण हो सकती है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने साहित्य और समाज के आपसी संबन्ध को यों शब्दबद्ध किया है - “साहित्य परिवर्तनशील वस्तु- व्यापार में केन्द्रित विचारधारा मात्र नहीं है, वह जीवन के मार्मिक और स्थाई स्वरूपों का जीता जागता चित्र है। साहित्य सामाजिक इतिहास का अंग नहीं है, वह उसका स्मारक है। समाज और इतिहास को बदल जाने पर स्मारक नहीं बदला करता। फिर साहित्य समाज की श्रेष्ठतम संस्कृति का द्योतक है, मानवता की स्थाई निधि है। इन सबके अतिरिक्त वह एक स्वतंत्र कला वस्तु है। वाणी और मानव भावना का साकार वैभव है।<sup>37</sup> साहित्य एवं समाज की घनिष्टता का परिचय इससे हमें प्राप्त होता है। समाज जीवन को परिवर्तित करने में साहित्य का अक्षुण्ण योगदान रहा है। मानव जीवन चलायमान है और साहित्य प्रवाहमान। साहित्य के समाजधर्मी तत्व के कारण वह समाज के अधिक निकट है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समाज और साहित्य में आधार-आधेय संबन्ध है। समाज से इकट्ठा किये विविधमुखी यथार्थ को समाज की भलाई के लिए समाज को ही प्रदान कर साहित्यकार अपने सामाजिक दायित्व को निभाता है।

सामाजिक यथार्थवादी कलाकार समकालीन समाज की पारिवारिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक क्रियाकलापों का सटीक चित्रण कर समाज को प्रगती के मार्ग पर अग्रसर करता है। सामाजिक यथार्थ के विविध रूप हैं, जो निम्न लिखित हैं-

#### 1.4.7.1 पारिवारिक यथार्थ

परिवार सामाजिक जीवन की पाठशाला व समाज की रीढ़ है। श्री शंभुरत्न त्रिपाठी के अनुसार, “परिवार सामाजिक गुणों की एक निधि है। सेवा, त्याग, प्रेम, सहयोग, सहनशीलता

आदि सब महत्वपूर्ण सामाजिक गुण हैं। ये सब गुण बच्चे में परिवार में ही उत्पन्न होते हैं।”<sup>38</sup> किन्तु आधुनिकयुग में आत्मकेंद्रित भावना, स्वार्थता, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, औद्योगीकरण, पूँजीवादी सभ्यता का विकास, आदि के कारण परिवार का ढाँचा भी डगमगा हो उठा है। भारतीय संस्कृति शानदार संयुक्त परिवार पर अडिग रहती थी किन्तु आज इस पारिवारिक व्यवस्था के संबन्ध में मनमुटाव, कडुआहट, द्वेष, मूल्यों का विघटन, वैयक्तिक भावना व स्वार्थता की लाभवृत्ति ने संयुक्तपरिवारों को विघटित करके अणु परिवारों की प्रतिष्ठा की है। डॉ. सुरेश सिन्हा के अनुसार “लोगों में एक वैयक्तिक स्थिति की कामना होने लगी और उसमें व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उभरने लगा। व्यक्ति की स्वतंत्रता की भावना बलशाली होने लगी जिसके परिणामस्वरूप घृणा, ईर्ष्या और विद्वेष, सहानुभूतिहीनता तथा अलगाव से जीवन भरा जाने लगा।”<sup>39</sup>

पाश्चात्यानुकरण के कारण आज हम अपनी शानदार संस्कृति और सभ्यता को नहीं पहचान पा रहे हैं। हमारी परंपराएँ, हमारे रीति-रिवाज़ परिवर्तन के चक्र में लुढ़कते-लुढ़कते, टूटते-बिखरते चले जा रहे हैं। एकलपरिवार में अकेलापन, संत्रास, कुण्ठा आदि भावनाओं की बढ़ावा होती है। परिवार पुण्य मन्दिर के समान है और माता-पिता देवी-देव का प्रतिरूप है। ‘माता-पिता-गुरु-दैव’ आदि संकल्पना भी हमारी सांस्कृतिक पैतृक की देन है। बच्चों का वात्सल्यपूर्ण लालन-पालन, ममता, शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन आदि माँ-बाप तन-तोड़ मेहनत करके निभाते हैं। किन्तु आज भारत की परंपरागत पारिवारिक मान्यताएँ शिथिल व ढीली पड़ गयी हैं। आज माँ-बाप और संतानों के बीच में दरारें पड़ चुकी हैं। आधुनिक उपभोक्तावादी युग में परंपरागत संस्कारों को पैरों तले रौंदा दिया जाता है। फलतः आज खून का रिश्ता फीका पड़ गया है। भाई-भाई का रिश्ता, भाई-बहन का रिश्ता सब स्वार्थता की पराकाष्ठा में टूट चुके हैं। पारिवारिक संबन्ध शिथिल हो चुका है। आधुनिक परिवार में औद्योगीकरण, पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण, स्वार्थता, कामलिप्सा, घमण्ड, पुरुष वर्चस्वता, संदेहवृत्ति, तीसरे के आगमन आदि कई कारणों से आज पति-पत्नी संबन्ध बिखराव के पड़ाव पर पहुँच चुका है।

आज स्त्री, पुरुष दोनों स्वतंत्र व्यक्तित्व चाहते हैं। इसी कारण से ही आज विवाह जैसा परंपरागत बन्धन ढीला पड़ गया। “एक ज़माना था जब किसी पुत्री किसी पिता के पुत्र के साथ झटके से जुड़ जाती थी। अग्नि और साक्ष्यों में, जाति के कुछ सदस्यों की उपस्थिति में सात फेरे खाकर पुरुष के साथ जन्म-जन्मान्तर के लिए हो जाती थी।”<sup>40</sup> लेकिन आज स्थिति बदल चुकी



है, “आज पुरुष यदि स्वतंत्रता से यौन संबन्ध की माँग कर रहा है तो दूसरी ओर स्त्री विवाहसंस्था को अपने व्यक्तित्व के अनुसार मोड़ना-मरोड़ना चाहती है।”<sup>41</sup> विवाह मानव जीवन के लिए अनिवार्य एवं सार्वभौमिक संस्था है जिसके द्वारा ही मानव जीवन पूर्णता को प्राप्त करता है, उसका चतुर्दिक विकास होता है। किन्तु आज व्यक्ति स्वातंत्र्य के चयन ने इस पवित्र संस्कार को अपवित्र कर दिया है। विवाह से जुड़े हुए पहलू जैसे प्रेम विवाह, अनमेल विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा समस्या, दहेज प्रथा, अनैतिक यौन संबन्ध आदि सामाजिक यथार्थ के विविध पहलू हैं। इससे दाम्पत्यजीवन में बिल्कुल तनाव व टकराहट ही देख सकते हैं। “भारतीय समाज में अनमेल विवाह भी एक भयंकर सामाजिक दोष है.... भारतीय समाज में बहुधा अनमेल का रूप वृद्ध-विवाह होता है। किशोरावस्था की लड़कियों का विवाह वृद्ध पतियों से होता है। यह कुप्रथा तथा सामाजिक दोष नारी-दासता का स्वरूप प्रकट करता है।”<sup>42</sup> अनमेल विवाह में पड़नेवाली लड़की की ज़िन्दगी संत्रास एवं घुटन से भर रहा है, वह घुट-घुट कर अपना जीवन समाप्त करने में मजबूर होती है।

#### 1.4.7.2 राजनीतिक यथार्थ

स्वतंत्रता के पूर्व भारतीय जन-मानस में स्वतंत्रता एकमात्र उद्देश्य था। 1947 अगस्त 15 में राष्ट्र स्वतंत्र होने पर भारतीय जनमानस ने स्वर्णिम सपना देखा। लेकिन नेताओं में सत्ता के लिए होड़ मच गया। इसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने के लिए कमलेश्वर जी ने ठीक ही लिखा है - “आज़ादी के बाद अंग्रेज़ और अंग्रेज़ी परस्त नौकरशाह अफसरों, सामन्तों की कमी पूरी की और क्षेत्रिय नेताओं ने ज़मीन्दारों के शून्य को भरा। शहर, जिला, तहसील, गाँव के स्तर पर क्षेत्रीय नेताओं का जो बुर्जुआ नया वर्ग पैदा हुआ, आज़ादी इसी वर्ग को प्राप्त हुई.... एकाएक एक वर्ग जोकों की तरह फूलने लगा।”<sup>43</sup> भारतीय राजनीति में प्रत्येक राजनीतिज्ञ सत्ता में रहना अपनी बपौती समझता है। आम जनताओं की भावनाओं को हासिल करके अपना स्वार्थ सिद्धकरना वर्तमान राजनीतिज्ञों का व्यवसाय है। हमारे दैनिक जीवन में राजनीति की व्याप्ती व्यापक है। विज्ञान, साहित्य, धर्म, उद्योग, नीति, कूटनीति आदि क्षेत्रों तथा व्यक्ति, परिवार समाज, राष्ट्र तथा विश्वजनीय संबन्धों में राजनीति की पैठ हो गई है। आज की घटिया राजनीति के संबन्ध में ध्यान देकर शिवानी जी लिखती है - “यह सचमुच हमारा दुर्भाग्य है कि राजनीति का विष आज शिक्षा एवं चिकित्सा से संबन्ध पावन संस्थाओं तक फैल गया है। प्रत्येक नियुक्ति एक राजनीतिक

नियुक्ति होती है, गुणी योग्य व्यक्ति की नहीं।”<sup>44</sup> स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्रीय आदर्शों का हास हुआ।

अंग्रेज़ी शासन के चंगुल में पड़कर भारतीय जनता गुलामी की जंजीर में कैद हुई। सन् 1942 में ‘भारत छोड़ो’ आन्दोलन के फलस्वरूप 1947 अगस्त 15 को भारत स्वतंत्र हुआ। इसपर अपने विचार प्रकट करते हुए डॉ. अर्जुन चहवाण जी ने ठीक ही लिखा है, “सन् 1947 के पहले हमारे देश में अनेक आन्दोलन चलाए गये, जिनका प्रधान उद्देश्य देश की स्वाधीनता से जुड़ा हुआ था। प्रायः ये राष्ट्रीय आन्दोलन थे जिनमें 1942 का ‘भारत छोड़ो’ आन्दोलन सबके व्यापक था। इतिहास इस बात का गवाह है कि तत्कालीन सारा भारतीय समाज राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत था। सारी भारतीय जनता स्वाधीनता का सपना साकार करने के उद्देश्य से आज़ादी के आन्दोलन में अपनी-अपनी हैसियत से अपना-अपना रोल अदा कर रहे थे।”<sup>45</sup> स्वाधीनता के बाद भारत ने लोकतंत्र शासन प्रणाली अपनायी, विश्व में भारतीय लोकशासन प्रणाली को सबसे बड़ा और मज़बूत कहा जाता है।

भारत कृषि प्रधान देश है। यहाँ की अधिकांश जनता खेती करते ही जीवन यापन करती है। शासकीय वर्ग अधिकांशतः शहरी होने के कारण ग्रामीण जनता की समस्याओं को समझने एवं सुझाव देने के लिए वे जागरूक नहीं हुए। उन्होंने किसानों को बचाने के लिए कोई योजना भी नहीं बनायी। मार्क्सवादी सिद्धान्त से प्रेरित होकर ये लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ती के लिए संघर्ष शुरू करने लगे। किसानों ने अपना मुक्ति आन्दोलन स्वयं ही संगठित किया तथा मज़दूरों ने भी मार्क्सवाद से प्रेरित होकर किसानों का साथ दिया। हिन्दू-मुसलमानों के बीच हुए सांप्रदायिक दंगों एवं देशविभाजन ने भारतवासियों के मन में हंगामा पैदा किया। देशविभाजन और सांप्रदायिक दंगे की आँधी तूफान में व्यक्ति के समस्त मानवीय मूल्य, आपसी विश्वास और आस्था पूर्ण रूपेण धराशायी हो गये। मानवीय संबन्धों और मानवीय मूल्यों का विघटन हुआ। इसके पीछे राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु धार्मिक विभेदों का दुरुपयोग ही चलता था। वर्तमान अनैतिक सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था से असंतुष्ट होकर आज की युवापीढ़ी अनुशासनहीनता का बर्ताव करने लगी। सामाजिक बन्धन को तोड़-मरोड़ करने की उनकी लालसा ने उन्हें अनुशासनहीन बना दिया। उनके अनैतिक बातों का चिन्तन आतंकवाद जैसे देशद्रोही काम तक कराने को उन्हें मज़बूर कर देता है।

समकालीन समाज में देश के हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार रूपी काली छाया फैल रही है। राजनीति के क्षेत्र में भी इसकी अधिकता देख सकते हैं। आज प्रशासनिक क्षेत्र में रिश्वतखोरी और बेईमानी की जड़ें जम चुकी हैं। प्रशासकीय मंत्रालय से हो रही अश्रद्धा, सत्तारूढ़ी शासकों की स्वार्थता एवं आत्मकेंद्रित भावना, महँगाई, विलासितावृत्ति, धनलालसा, न्याय मिलाने में अस्थिरता, मूल्यविघटन आदि कई कारणों से सब कहीं भ्रष्टाचार का तांडव नृत्य चल रहा है। नेताओं ने सत्ता और शक्ति के बल पर हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया है। “हाल के वर्षों में भ्रष्टाचार के सबसे अधिक उल्लेखनीय क्षेत्र वे रहे हैं, जिनमें व्यापारियों ने पेरमिटों और लाइसेंसों की अर्जियाँ दी हैं। शासन के अन्दर उक्त क्षेत्र में निरीक्षण और देखरेख का समुचित प्रबन्ध नहीं रहा और निश्चित रूप से गलत तरीकों से फायदे उठाए गए।”<sup>46</sup> राजनीतिज्ञों का भ्रष्ट आचरण समाज व्यवस्था के प्रत्येक स्तर को अधिक जटिल बना देता है। ‘कालाधन’ से मिले सम्मान एवं बडप्पन सामाजिक मर्यादाओं को खतम कर भ्रष्टाचार को अधिक बढ़ावा भी प्रदान करते हैं। शासकों की आँखों को खो ले बिना भारतवासियों को इस बुरी हालत से मुक्त होना आसानी सी बात नहीं।

स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद ग्रामपंचायतों का संगठन किया गया। अब वह ‘पंचायतीराज’ नाम से जाना जाता है। जिला पंचायत, ब्लाक पंचायत, ग्राम पंचायत जैसे त्रितल पंचायतों की योजना से सरकार गाँवों को सुधारने का परिश्रम करती है। राजनीतिक अधिकार बोध पंचायत की ही देन है। “पंचायतीराज ग्रामजीवन की स्वायत्ता के लिए एक ठोस कदम अवश्य है लेकिन सत्ता के विकेन्द्रीकरण के कारण ही ग्रामों में स्वार्थपरता, अधिकार लिप्सा, गुटबन्दी भ्रष्टाचार, मूल्य खलन जैसी बुराइयाँ भी फैल गयी हैं। पंचायत की परंपरा इस देश में पुरानी है, किन्तु पुराने ज़माने की पंचायतों में ऐसे लोगों को मुखिया बनाया जाता था जो वस्तुतः ‘दूध का दूध और पानी का पानी’ के सिद्धान्त का पालन करते थे।”<sup>47</sup> अपने उद्देश्यों से विचलित है आज ‘पंचायतराज’। कृष्णकुमार बिस्सा के अनुसार, “पंचायतीराज का उद्देश्य ग्रामीण जीवन में प्रजातांत्रिक मूल्यों की स्थापना करना था किन्तु महानगरों की राजनीति से जुडकर अनेक विघटनकारी तत्व इस पंचायतीराज में समाविष्ट हो चुके हैं।”<sup>48</sup> आज भी पंचायतीराज के शासन पर गाँव की सामन्ती वर्ग विराजता है। जो जन-कल्याण की अपेक्षा अपनी-अपनी जेब भरने के उद्यम में लग रहे हैं। आज गाँधीजी की ये मान्यताएँ धूल में पड गयी हैं कि भारत की आत्मा गाँवों में है। यदि गाँव में विकास नहीं आएँ तो देश के विकास कैसे संभव हो जाएँ?

भारत प्रजातंत्रात्मक राष्ट्र है। हरेक नागरिक अपने-अपने मूल्यों पर अडिग रहकर शासन व्यवस्था के अनुसार अपने नेता को चुन लेते हैं। डॉ. सुकुमार भंडारे का मत है कि “लोकशाही में चुनावों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। लोकतंत्र को जीवित रखने का काम चुनाव करते हैं। चुनाव के माध्यम से मतदाता क्या सोचता है, भविष्य में क्या चाहता है, उसकी अभिव्यक्ति उसके इस निर्णय में होती है। जो मत-पेटियों से प्रकट होती है।”<sup>49</sup> चुनाव विविधप्रकार हैं जैसे स्थानीय चुनाव, प्रादेशिक चुनाव और राष्ट्रीय चुनाव। चुनाव के माध्यम से लोगों को अपने नेताओं को चुनने की फुरसत मिलती है। डॉ. जालिन्दर इंगले के अनुसार ‘भारतीय लोकतंत्र ने लोकप्रतिनिधि को विशेषमहत्व प्रदान किया। लोक प्रतिनिधि आम समाज से चुने जाने चाहिए। यह मतप्रवाह है। इसलिए भारतीय संविधानकर्ता ने लोक-प्रतिनिधि को चुनाव के माध्यम से चुना जाना आवश्यक बताया, इस प्रक्रिया हेतु ‘वोट’ नामक वरदान प्रत्येक नागरिक को प्राप्त हुआ। मतदाता अपने ‘वोट’ के ज़रिए अपना प्रतिनिधि चुनकर देता है। वह प्रतिनिधि लोक प्रतिनिधि कहलाता है।”<sup>50</sup> यह चुनाव प्रणाली आम जनता को एक हद तक वर्तमान की मूल्य मूढ़ता के समान पस्त होने से बचाती है।

चुनाव में भाग लेनेवाले उम्मीदवार अपनी जीत के लिए कई तरह के अनैतिक काम ही करते हैं। “चुनाव के समय सफलता के लिए लोग अनैतिक हथकंडों का सहारा लेते हैं। जगह-जगह पर सांप्रदायिक दंगे होते रहते हैं। इनका एक ही मकसद होता है, किसी भी प्रकार चुनाव जीतना, चाहे चुनाव के लिए खून ही क्यों न बहाना पड़े।”<sup>51</sup> चुनाव अब जनता के हित के लिए न होकर, वह सत्ता पर काबिज करने का एकमात्र साधन बन गया है। आज नेतागण ब्रिटीश राजनीति, ‘फूट डालो और राज करो’ नारा को अपनाकर चुनाव लड़ते जीते हैं।

अधिकांश नेतागण खोखली मर्यादा दिखाकर, जनता को तोड़-मरोड़ कर केवल वोट हासिल करने के लिए अधिक मुताबिक होते हैं। वे चुनाव के समय जाति, धर्म, पैसा, गुण्डावादी, हत्या आदि का सरेआम प्रयोग करते हैं। राजनीतिक दल में भी जातिवाद के पैतरे खेले जाते हैं। आज राजनेता झूठी चापलूसी करके अपने लाभ उठाने का परिश्रम करता है। डॉ. अर्जुन चहवाण जी ने लिखा है - “स्वतंत्र भारत की राजनीति में जिन लोगों ने हिस्सा लिया, प्रायः वे उच्चवर्गीय लोग ही रहे। देशसेवा के बदले उन्होंने स्वार्थसिद्ध का दुष्चक्र शुरू किया। ऐशआराम की ज़िन्दगी जीने के मोह में ये राजनेता जनता की सोचने की अपेक्षा अपना ही सोचने लगे।”<sup>52</sup> अशिक्षित

गुण्डा लोग भी आज 'नेता' बनता है। कुर्सी की लालच, धनोपार्जन की चिन्ता, पदलोलुपता आदि कई कारणों से आज लोग 'नेता' का स्थान प्राप्त करते हैं। यदि अपनी पार्टी में टिकट न मिले तो दूसरी पार्टी से टिकट माँगवाकर वह चुनाव में जीत लेता है। यही हमारा राजनीतिक यथार्थ है।

### 1.4.7.3 आर्थिक यथार्थ

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति के लिए, मूल अधिकार एवं गाँधीवादी समाजवादी धारणा से पोषित 'राज्य के नीतिनिर्देशक तत्त्वों' को अपनाया गया लेकिन पराजित हुआ। प्राचीनकाल में समाज वर्ण के आधार पर बाँटें तो अब अर्थ के आधार पर उच्चवर्ग, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग आदि रूप में बाँटा होता है। मार्क्स के मतानुसार पूँजीवादी सभ्यता एवं संस्कृति का एकमात्र आधार अर्थवाद ही है। इसमें पिता-पुत्र, पति-पत्नी, शिक्षक-शिष्य आदि संबन्धों के स्थान पर केवल अर्थमूलक संबन्ध का ही महत्व है। पूँजीवादी सभ्यता के फलस्वरूप भारत में निम्नवर्ग एवं मध्यवर्ग अधिकाधिक गरीब होता गया है।<sup>53</sup> अल्पवेतन, महँगाई, संयुक्त परिवारों का विघटन, बेकारी की समस्या आदि कई कारणों से मध्यवर्ग और निम्नवर्ग आर्थिक पराधीनता के शिकंजे में पिसने लगे। धनसंपत्ति के पीछे दौड़कर मानव ने सुख-सुविधाएँ प्राप्त करना चाहा। फलस्वरूप रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, सिफारिश आदि अनैतिक नीतियाँ उन्होंने अपनायीं। देश के विभाजन से भारत की आर्थिक हानि ही नहीं हुई अपितु देश की आर्थिक समस्याएँ और अधिक जटिल हो गईं। औद्योगिक क्रान्ति में भारत विकासशील राष्ट्र है।

आर्थिक क्षेत्र में भारत में कई कारखानों एवं नयी-नयी योजनाएँ बनायीं गयीं। औद्योगिक विकास हेतु विभिन्न स्थानों पर अणुकेन्द्रों की स्थापना, नागार्जुन सागर परियोजना, भखडानंगल परियोजना, दामोदर धारी परियोजना, चम्बल, कोसी एवं तुंगभद्रा परियोजना का निर्माण किया गया जिससे देश की आर्थिक दशा अधिक सुदृढ़ हो सके। वैज्ञानिक क्षेत्र में कंप्यूटर के हार्डवेयर एवं सॉफ्टवेयर के उपयोग ने भी यहाँ अधिक आर्थिक सुरक्षा का मार्ग दर्शाया। ग्रामीण क्षेत्र में कुटीर उद्योगों की शुरुआत भी हुई। भारत विकासशील एवं औद्योगिक क्षेत्र में इतनी प्रगति पाने पर भी अधिकांश जनता आज भी भूखी एवं नंगी है, क्योंकि आमजनता की आर्थिक सुरक्षा हेतु बनायीं गयीं सारी योजनाओं का लाभ पूँजीपतियों और राजनीतिक नेताओं के हाथ में ही पहुँचता है।

प्राचीनकाल से ही भारत में ज़मीन्दारी प्रथा चल रही थी। इस ज़मीन्दारी शासन को हटाने के लिए 1974 से ग्रामीण जीवन में ज़मीन्दारी उन्मूलन का एक प्रगतिशील कार्यक्रम प्रारंभ हुआ।

किसान तनतोड़ मेहनत करते थे और ज़मीन्दारों आय प्राप्त करके विलासितापूर्ण जीवन बिता रहे थे। ज़मीन्दारों के उन्मूलन ने ग्रामजीवन में वैचारिकता को नये संदर्भ दिये लेकिन नए सामन्तीवर्ग को जन्म दिया। युगों से ही ज़मीन्दारी वर्ग के नये- नये रूप हमारे सामने खड़े होते हैं। डॉ. प्रेमकुमार के अनुसार - “ज़मीन्दारी टूटी लेकिन ज़मीन्दार बने रहें। ग्रामीणों के शोषण के लिए नये सामन्त और पैदा हो गये, जहाँ नये नहीं पनपे वहाँ पुरानों ने ही मांसाहार छोड़ने और शाकाहारी हो जाने का अभिनय करना शुरू कर दिया। बहुत से कुख्यात और बदनाम ज़मीन्दार काँग्रेस में सम्मिलित होकर शोषण के नये तौर-तरीकों की ईजाद में व्यस्त हो गये।”<sup>54</sup> सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में अपना अधिकार जमाए ये लोग केवल धन को ही एकमात्र सत्ता मानते थे। इसप्रकार आर्थिक शोषण युगों से चल रहा है।

भारतीय समाज जीवन में शिक्षित बेरोज़गार एवं अशिक्षित बेरोज़गार कायम रहते हैं। अशिक्षित बेरोज़गार निम्न स्तर के काम करने के लिए बाध्य हैं लेकिन शिक्षित लोग केवल सरकारी अफसर बनना चाहते हैं। राष्ट्र की बढ़ती जनसंख्या ही बेकारी की समस्या का प्रमुख कारण है। बेकारी का सर्वप्रथम प्रभाव परिवार पर पड़ता है। बेकारी के कारण उत्पन्न धनाभाव पारिवारिक जीवन को झकझोर कर देता है। बेकारी का विराट रूप आज शहरों में भी देखा जा सकता है। आज यंत्रिकरण के कारण लाखों लोग बेकार हो गये हैं। जो काम सैकड़ों आदमी मिलकर करते थे उसे आज एक मशीन कर देती है। शिक्षित बेकारी अशिक्षित से भी भयानक है, क्योंकि बुद्धिजीवी वर्ग यदि भूख की ज्वाला से पीड़ित रहेगा तो देश का विकास नहीं हो सकता। जो सामाजिक विघटन का कार्य भी बनेगा। “आज के विद्यार्थी बेकारी की यथार्थता से घबराते रहते हैं। इसके अतिरिक्त जनसंख्या की क्रमातीत वृद्धि, विश्व विद्यालयों, महा विद्यालयों की भरमार आदि बेकारी की समस्या को बढ़ावा करती है।”<sup>55</sup> बेरोज़गारी की समस्या को हटाने के लिए सरकार की ओर से नयी योजनाएँ बनाना आवश्यक है।

भारतीय जनता को झंझट में डालनेवाली गहरी समस्या है महँगाई। गलत अर्थव्यवस्था के कारण ही महँगाई इतनी बढ़ रही है। आज हमारा देश अन्य देशों से उगती हुई चावल एवं सब्जियाँ अधिक धन लेकर खरीदता है, और जो विदेशी चीज़ों का बाज़ार बन गया है। महँगाई की क्रूरता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. अर्जुन ने लिखा है “आज महँगाई राक्षस के समान क्रूरता से बढ़ती जा रही है। इस बढ़ती जा रही महँगाई ने निम्न, मध्यवर्ग की कमर तोड़ दी है। नौकरीपेशा

व्यक्ति इस महँगाई से बहुत त्रस्त है। दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना सामान्य आर्थिक स्थिति के परिवार के लिए मुश्किल होता जा रहा है।<sup>56</sup> यदि हम अपने देश में ही खाद्य वस्तुओं का उत्पादन करें तो यह महँगाई एक हद तक नियंत्रण कर सकते हैं।

आधुनिक युग उपभोक्तावादी एवं बाज़ारवादी युग है। 'यूस एण्ड थ्रो' संस्कृति बलवत्ती हो उठी है। वैश्वीकरण इसयुग की नयी चुनौती है। इंटरनेट एवं ई-मेल का उपयोग भी आज अविराल रूप से प्रवाहमान हो उठा है। वैश्वीकरण पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए टाइम्स एल फ्रिडमैन कहते हैं - "भूमण्डलीकरण का अभियान अमेरिका के नेतृत्व में चलना स्वाभाविक है क्योंकि भूमण्डलीकरण ने अमेरिकी जीवन मूल्यों तथा आचार-विचारों को अपना लिया है, यह अनायास नहीं है। अमेरिका ही पूर्ण रूपेण मुक्त बाज़ार एक प्रौद्योगिकी का महत रहा है।"<sup>57</sup> जी-8, विश्व बाज़ार संगठन, अंतरराष्ट्रीय संगठनों द्वारा ही इसका संचालन हो रहा है। वैश्वीकरण ने भारत में बेकारों की संख्या बढ़ा दी है। नैतिक मूल्यों का पतन भी हो चुकी।

#### 1.4.7.4 धार्मिक यथार्थ

धर्म मानवजीवन को आदर्श एवं उच्चमूल्य प्रदान करता है। सद् आचरण, मानवीयता, प्रेम, दायित्वबोध, अनुशासन, विवेक आदि जीवनमूल्य उचित धार्मिक आचरण में मिलते हैं। धर्म के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व भी नहीं है। भारतीय सामाजिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक भावनाओं का आधार 'धर्म' है। इष्ट की प्राप्ति के लिए और अनिष्ट के निवारण के लिए अलौकिक शक्ति की साधना या प्रार्थना ही धर्म है। डॉ. भोलानाथ तिवारी द्वारा संपादित व्यावहारिक हिन्दी कोश में धर्म की इस प्रकार व्याख्या की गयी है - "धर्म नैतिक कर्तव्यों और नियमों की वह पद्धति है, जिसके पालन से व्यक्ति लोक और परलोक दोनों में यश और पुण्य का लाभ करता है।"<sup>58</sup> सामाजिक या सांस्कृतिक गतिविधियों का मूलाधार 'धर्म' है। धर्म के महत्व के संबन्ध में डॉ. राधाकृष्ण ने इसप्रकार कहा है - "धर्म वह अनुशासन है, अन्तरात्मा का स्पर्श करता है और हमें बुराई और कुत्सितता से संघर्ष करने में सहायता देता है, काम, क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है, नैतिक बल को उन्मुक्त करता है, संसार को बचाने का महान कार्य के लिए साहस प्रदान करता है।"<sup>59</sup> सच्चे धर्म पर प्रकाश डालते हुए डॉ. ज्ञानचंद शर्माजी लिखते हैं - "सच्चा धर्म खान-पान, छुआ-छूत पर आधारित नहीं होता। वह तो सद्समाज में निहित उच्च भावनाओं का प्रतीक होता है। किसी भी बुरे कार्य के साथ धर्म के नाम का भोग लगाना, इस पवित्र

भाव को जोड़ना, धर्म को कलुषित करनेवाली बात है।”<sup>60</sup> हमारे सर्वतोन्मुख विकास के लिए धर्म एवं धार्मिक अनुशासन में शामिल होना बहुत ज़रूरी है। लेकिन आज धर्म भी केवल ‘दिखावा’ मात्र बन गया है। धर्मान्ध व्यक्ति धर्म के नाम पर अधर्म, कट्टरता या सांप्रदायिकता का कार्य करता है। आज सत्य, अहिंसा और परोपकार पर अधिष्ठित धर्म के नाम पर सांप्रदायिक दंगों एवं अत्याचार भी खूब मुखरित होते हैं। धर्म के ठेकेदार ब्राह्मण, पंडे, पुरोहित आदि अज्ञानी, गरीब, दलित वर्ग के आर्थिक, मानसिक, शारीरिक शोषण करना अपना हित समझते हैं। आज धर्म के नाम पर धनसंपादन करनेवाले ढोंगी साधु धन के पीछे की भाग दौड़ में आम जनता का शोषण कर रहा है। आज नैतिक मूल्यों का विघटन हो रहा है।

धार्मिक पाखण्डता का विचित्र रूप हमें ग्राम एवं अंचलों में देख सकते हैं। धर्म के साथ अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड, आडंबर आदि भी जुड़े हुए हैं। अशिक्षित ग्रामीण लोग इस पर अधिक विश्वास रखने के कारण पंडित, पुरोहित, स्वामी, सन्यासी, ओझा आदि के शोषण जाल में फँस जाते हैं। भारतीय धार्मिक निष्ठा में वेदों, पुराणों, उपनिषदों आदि के आदर्श मूल्य समा रहते हैं। लेकिन अशिक्षित ग्रामीण जनता ईश्वर के अतिरिक्त अन्य दुष्कर्मों से अपनी समस्याओं से बचना चाहती हैं। इसलिए वह व्रत, उपवास, जादू-टोना आदि करने में अधिक हिम्मत देती है। डॉ. लक्ष्मणदत्त गौतम के अनुसार, “सामाजिक रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों की अपेक्षा धार्मिक रूढ़ियों व अंधविश्वासों की नींव अधिक गहरी एवं मज़बूत होती है।”<sup>61</sup> मानव शिक्षित और विवेकी बन जाने से ही धार्मिक पाखण्डता व अन्धविश्वास से बच सके।

#### 1.4.7.5 सांस्कृतिक यथार्थ

भारतीय समाज कई आदर्श, मूल्य, नियम, रूढ़ि, परंपरा आदि से जुड़ा हुआ है। आचार-विचारादि को धर्मानुसार करना ही संस्कृति कहलाती है। समाजशास्त्रीय विश्वकोश के अनुसार - “संस्कृति वह मिश्रित किन्तु पूर्ण व्यवस्था है, जिसमें वे सभी ज्ञान, विश्वास, नैतिकता के सिद्धान्त, विधिविधान, प्रथाएँ तथा ऐसी अन्य सभी योग्यताएँ सम्मिलित हैं जिन्हें व्यक्ति समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।”<sup>62</sup> डॉ. हेमेन्द्र वानेरी ने कहा है कि “संस्कृति वह सीखा हुआ व्यवहार है जिसके द्वारा मानव पशु जगत से पृथक होकर सभ्य कहलाता है। संस्कृति का व्यापक अर्थ किसी समाज की जीवन पद्धति से है, उसमें उसकी काल, शिल्पविन्यास, मान्यताएँ, मूल्यजीवन दर्शन, संस्कार, प्रथाएँ, धर्म आदि सब समाहित हैं। मानव व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति ही



सहायक होती है।<sup>63</sup> संस्कृति हमारी जीवन शैली का आधार है। मानवीय प्रगति एवं उनके सच्चे आचरण, विश्वास, सभ्यता, श्रेष्ठ नैतिकमूल्य, जीवनशैली, कला-कौशल, रूढ़ियाँ, परंपराएँ, वेष भूषा, खान-पान, रहन-सहन सभी हमारे संस्कृति के भीतर ही निहित है।

प्राचीनकाल से ही मानव अपने वैयक्तिक, पारिवारिक, और सामाजिक जीवन को मंगलमयी बनाने के लिए रूढ़ियों एवं परंपराओं का जाति, धर्म आदि के अनुसार पालन करते हैं। “हमारे यहाँ उन सांस्कृतिक मूल्यों को समाज ने प्रतिष्ठित किया जो मानव-विकास और हित में सहायक थे। काल-प्रवाह के साथ-साथ वे सांस्कृतिक मूल्य दृढ़ हो गए और इनका रूपान्तर रूढ़ियों एवं परंपराओं की दीवारों में हो गया।”<sup>64</sup> भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकता के धरातल पर होने के कारण मानव कल्याण के लिए इन रूढ़ियाँ एवं परंपराओं का पालन करना अनिवार्य है। लेकिन नयी पीढ़ी के लिए रूढ़ियाँ एवं परंपराएँ हास्यास्पद हैं। नई पीढ़ी आधुनिक शिक्षा, वैज्ञानिकीकरण एवं नये-नये आविष्कारों के कारण पश्चिमी रीति से आसक्त होकर इन परंपरागत रूढ़ियों का उन्मूलन करने की बात सोच रही है। संयुक्त परिवार की टूटन और अणु परिवार की प्रतिष्ठा से व्यक्ति चयन की स्वतंत्रता बढ़ रही। फलतः नई पीढ़ी परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों का उल्लंघन कर अपने हितानुसार जीने लगी। कुछ लोग अभी भारतीय परंपरा का पालन करते देख पड़ते हैं तो कुछ लोग पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से उभर आए सांस्कृतिक मूल्य संक्रमण से गुज़रने लगे।

लोग अपने आचार-विचार, निष्ठा एवं धर्म के आधार पर विभिन्न तरह के त्योहार मनाते हैं। दक्षिण भारत में ओणम, क्रिसमस, रंसान आदि को प्रमुखता दी गयी है तो उत्तर भारत में होली, दशहरा, ईद, दीपावली आदि को महत्वपूर्ण मानते हैं। त्योहार हमारी धार्मिक एवं सांस्कृतिक निष्ठा का प्रत्यक्षीकरण है। हर त्योहारों के पीछे एक आदर्शयुक्त कथा और आध्यात्मिक समन्वय की भावना, लोक कल्याण की भावना और विश्वबन्धुत्व की भावना भी है। बुराई के ऊपर भलाई की जीत दिखाना ही इसका लक्ष्य है। परंपरागत रूप से मनानेवाले इन त्योहारों में प्राचीन विश्वास एवं रूढ़ियाँ कायम रहती हैं। मानवीय मूल्यों की प्रगति इसका सर्वोत्तम लक्ष्य है। किन्तु शहरीकरण और शहरी संस्कृति के प्रभाव से त्योहारों के मनाने से लोगों का मन उतर गया है।

भारतवासी विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक धरातल पर रहने के कारण उनकी खान-पान, वेषभूषा, रहन-सहन, आचार-विचार आदि में विभिन्नता प्रतिबिंबित है। भारत में अधिकांश

ग्रामीण जनता होने के कारण उनका वेष-विधान ग्रामीण संस्कृति के अनुकूल है। विभिन्न देश के लोग खान-पान में अपनी रुचि को लेकर विभिन्न खाद्य वस्तुएँ पकाते हैं। उसी प्रकार रहन-सहन, आचार-विचार आदि में भी भिन्नता है। समकालीन समाज में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से रहन-सहन आदि सभी कार्यों में बदलाव आ गया है। लड़कियाँ भी पुरुष का वेष-विधान करने का दृश्य आज देख सकते हैं। आज खान-पान में भी विशेष बदलाव आता है। नारियाँ भी शिक्षित और कामकाजी होने के कारण 'फास्टफुड' की संस्कृति प्रगति के मार्ग पर है। जिससे आज युवापीढी एवं बच्चे-बच्चियों का स्वास्थ्य भी बिगाड़ जाता है। युवा लोग भी 'फैशन' की दौड़ में पश्चिमी जिन्दगी का अनुकरण करते हैं। वेषविधान में नहीं बल्कि उनकी रहन-सहन आचार-विचार आदि सभी बातों में बदलाव आया है। हमारी परंपरागत नृत्यकला के स्थान में पश्चिमी नृत्य संगीत का प्रवाह है। लेकिन पश्चिमी लोग भारतीय ग्रामीण जीवन, नृत्यकला, वास्तुकला, प्रकृति रमणीयता आदि से प्रभावित होकर यहाँ पर्यटन करते हैं तो भारतवासी सुख-सुविधाओं की खोज में अपनी सांस्कृतिक परंपरा पर धोखा मारकर पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण करते हैं।

'लोकगीत' भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है जो ग्रामीण जनता की भावनाएँ, अनुभूति आदि का अभिव्यक्तीकरण है। जिनमें ग्रामीण बोलचाल की भाषा अधिकांश रूप में पायी जाती है। यह अधिकांशतः मनोरंजन के अवसर पर, खेती करते समय, मंगलकर्म के समय और दुःख के समय गाये जाते हैं। जिसमें सुख-दुःखात्मक मनोवृत्ति का समावेश है। डॉ. रवीन्द्रभ्रमर ने लोकगीतों पर विचार करते हुए लिखा है - "लोकगीत लोकमानव के व्यक्तिगत और सामूहिक सुख-दुःख की लयात्मक अभिव्यक्ति होते हैं। लोककथा की भाँति ये भी लोक-कंठक की मौखिक परंपरा की धरोहर और लोकमानस की विविध चिन्तन धाराओं के कोण माने गये हैं।"<sup>65</sup> लोकगीतों में प्राप्त संस्कृति के द्वारा हमारा जातीय बल-वैभव, आकांक्षाएँ, लालसाएँ, हृदय की उदारता और करुणा, संतोष भावना, प्रकृति के साथ जीवन का लगाव, पशु-पक्षियों से प्रेम, पारस्परिक, पारिवारिक और सामाजिक व्यवहार आदि भली-भाँति स्पष्ट होते हैं।"<sup>66</sup> किसी भी जाति के लोकगीत उसकी संस्कृति के धरोहर हैं।

देवी-देवताओं की पूजा भारतीय संस्कृति की शानदार परंपरा है। पुरातनकाल से ही आदिम मानव प्रकृतिशक्ति से डरकर बिजली, पर्वत, नाग आदि सभी की आराधना करते थे। प्रकृति शक्तियों को ईश्वर का कटाक्ष मानकर ही वे उसकी पूजा करते थे। बाद में विग्रहाराधना की

प्रथा की शुरुआत हुई। विभिन्न धर्मवालों ने अपने-अपने देवी-देवताओं की पूजा करना, अपने संकट विनाश का मार्ग समझा। अधिकांशतः ग्रामीण जनता इस पूजा विधान में अधिक सक्रिय हुई है। देवी-देवताओं की पूजा पर प्रकाश डालते हुए डॉ. कमला गुप्त जी ने ठीक ही लिखा है - प्रत्येक क्षेत्र के लोग स्थानीय देवता की पूजा करते हैं एवं मनौतियाँ माँगते हैं।<sup>67</sup> भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकता की नींव पर खड़े रहने के कारण इन देवी-देवताओं की पूजा करना भारतीय अपने आचार, निष्ठा का केन्द्र मानते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पाश्चात्य शिक्षा, पाश्चात्य संस्कृति, व वैश्वीकरण के प्रभाव से भारतीय संस्कृति के पालन में युवावर्ग में अनुशासनहीनता का बोल-बाला मुखरित होता है। चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पर आधारित भारतीय परंपरा में मूल्यच्युति की भरमार है।

हिन्दी की समकालीन महिला उपन्यासकारों ने समाज के पारिवारिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक प्रसंगों के यथार्थ को उन्मुक्तता से परख कर अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। उनमें कृष्णा अग्निहोत्री, कृष्णा सोबती, दीप्ती खण्डेलवाल, मालती जोशी, निरुपमा सेवती, मंजुल भगत, ममता कालिया, शुभा वर्मा, मृदुला गर्ग, मृणाल पाण्डे, मेहरुत्रिसा परवेज़, नासिरा शर्मा, अलका सरावगी, शशिप्रभा शास्त्री, कान्ता भारती, बिन्दु सिन्हा, कुसुम अंसल, मणिका मोहिनी, रजनी पनिकर, राजीसेठ, सिम्मी हर्षिता, प्रभा खेतान, मधु भादुडी, चन्द्रकान्ता, मालती परुलकर, वीना शर्मा, प्रतिभा सक्सेना, सुनीता जैन, सूर्यबाला, प्रतिमा वर्मा, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, सुभद्रा, गीतांजली श्री, मधु काँकरिया आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आगे के अध्यायों में उनके उपन्यासों में चित्रित बहुस्तरीय और बहुरंगीय सामाजिक यथार्थ को ढूँढ पाने का प्रयास है।

### संदर्भ

1. डॉ. शिवकुमार मिश्र - यथार्थवाद - पृ. 7
2. Damian Grant - Realism - P. 72
3. दि रीडर्स डाइजेस्ट ग्रेट इन्साइक्लोपीडक डिक्शनरी - पृ. 735
4. काले कैपलैर (सं) - संस्कृत-अंग्रेज़ी डिक्शनरी - पृ. 427
5. कामिल बुल्के - अंग्रेज़ी हिन्दी कोश - पृ. 543
6. डॉ. बैजनाथ सिंहल - शोध : स्वरूप एवं मानक कार्य विधि - पृ. 90

7. वही - पृ. 90
8. डॉ. सीताराम जायसवाल - बृहदशिक्षा शास्त्र - पृ. 15
9. डॉ. चन्द्रभान् रावत - आधुनिकता की पहचाना - पृ. 158
10. विजयमोहन सिंह - समकालीन कहानी : दशा और दृष्टि - पृ. 125
11. आदर्श हिन्दी शब्द कोश - पृ. 172
12. डेनियम ग्रंट - रीयलिसम - पृ. 78
13. डार्वट फास्ट - साहित्य और यथार्थ - पृ. 30
14. डॉ. शिवकुमार मिश्र - यथार्थवाद - पृ. 20
15. वही - पृ. 20
16. उमेश शास्त्री - हिन्दी साहित्य का निबन्धात्मक इतिहास - पृ. 265
17. वही - पृ. 265
18. शिवनारायण - हिन्दी उपन्यास - पृ. 547
19. कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका - पृ. 174
20. Mathew Josethson - Zola & His Time - P. 97-98
21. वही - पृ. 97-98
22. रामचन्द्रवर्मा - मानस हिन्दी कोष - पृ. 435
23. डॉ. त्रिभुवनसिंह - हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - पृ. 44
24. कार्ल मार्क्स - लिटरेचर एण्ड आर - पृ. 2
25. शिवकरण सिंह - आलोचना के आधुनिकवाद और नयी समीक्षा - पृ. 95
26. शिवकुमार मिश्र - यथार्थवाद - पृ. 116
27. डॉ. त्रिभुवन सिंह - हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - पृ. 135-141
28. डॉ. त्रिभुवन सिंह - हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग - पृ. 146-147
29. डॉ. त्रिभुवन सिंह - हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - पृ. 14
30. डॉ. देवराज (गणेशन) - हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन - पृ. 263
31. "The aim of the Novel is not simply to describe. It must also correct, and it is a poor sort of correction to describe a little in order to correct one of these days" - Emily Zola Correspondance (1857-1871) - P. 255
32. शिवनारायण श्रीवास्तव - हिन्दी उपन्यास - पृ. 548-549

33. डॉ. त्रिभुवन सिंह - हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - पृ. 52
34. डॉ. शिवकुमार मिश्र - यथार्थवाद - पृ. 7
35. डॉ. त्रिभुवन सिंह - हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - पृ. 231
36. डॉ. नीहार गीते - स्वातंत्र्योत्तर महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में यथार्थ के विभिन्न रूप - पृ. 29
37. डॉ. बी. सत्यनारायण - आधुनिक साहित्य - पृ. 431-432
38. डॉ. शंभुरत्न त्रिपाठी - सामाजिक संरचना और संस्कृति - पृ. 37
39. डॉ. सुरेश सिन्हा - हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास - पृ. 342
40. Lewis Oscar - Village life in Northern India - P. 19
41. Dr. Promilla Kapoor - Love Marriage and Sex - P. 112
42. चण्डी प्रसाद जोशी - हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन - पृ. 126
43. कमलेश्वर - नई कहानी की भूमिका - पृ. 6
44. बिन्नु - शिवानी - पृ. 70-71
45. डॉ. अर्जुन चह्वान - राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन - पृ. 128
46. डॉ. आनन्द शर्मा - उपन्यासकार कमलेश्वर, समाजशास्त्रीय निष्कर्ष - प्रथम संस्करण - पृ. 240
47. डॉ. पीतांबर सरोदे - आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में राजनैतिक एवं आर्थिक चेतना - पृ. 171
48. कृष्ण कुमार बिस्सा - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना - पृ. 168
49. डॉ. सुकुमार भंडारे - समकालीन हिन्दी उपन्यास में राजनैतिक चित्रण - पृ. 80
50. डॉ. जालिन्दर इंग्ले - हिन्दी उपन्यास में वर्ग एवं वर्ण संघर्ष - पृ. 182
51. डॉ. केशवदास वर्मा - आधुनिक हिन्दी उपन्यास और वर्ग संघर्ष - पृ. 192
52. डॉ. अर्जुन चह्वान - डॉ. राजेन्द्र यादव के उपन्यास में मध्यवर्गीय जीवन - पृ. 141
53. डॉ. ए.के. अजिताकुमारी - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में सामाजिक चेतना - पृ. 52
54. डॉ. प्रेमकुमार - समकालीन हिन्दी उपन्यास : कथ्य विश्लेषण - पृ. 81
55. डॉ. ए.के. अजिताकुमारी - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में सामाजिक चेतना - पृ. 38
56. डॉ. अर्जुन चह्वान - डॉ. राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन - पृ. 116
57. डॉ. एस. राधाकृष्णन - धर्म और समाज - पृ. 121
58. (सं) भोलानाथ तिवारी - व्यावहारिक हिन्दी कोश - पृ. 165-166
59. डॉ. राधाकृष्णन - धर्म और समाज - पृ. 49

60. प्रेमचन्द - रंगभूमि - पृ. 101
61. डॉ. लक्ष्मणदत्त गौतम - आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना - पृ. 227
62. शंभुरत्न त्रिपाठी - समाज शास्त्रीय विश्वकोश - पृ. 33
63. सुभाषिनी शर्मा - स्वातंत्र्योत्तर आँचलिक उपन्यास - पृ. 100
64. डॉ. अर्जुन चट्टवाण - राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन - पृ. 169
65. डॉ. रवीन्द्र भ्रमर - हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व - पृ. 6
66. डॉ. बी.पी. चौहान - रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में लोकजीवन - पृ. 248
67. जीवनकुमार - नागार्जुन के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य - पृ. 17

